# वैदिक दर्शन में निहित पर्यावरणीय शिक्षा के तत्वों की विवेचना

**संजू शुक्ला**

सहायक प्रवक्ता, गृह विज्ञान
रघुवीर महाविद्यालय,थलोई
जौनपुर

वेद संसार के प्राचीनतम ग्रंथ है। वेद चार है– ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद और सामवेद। सामान्यतः यह समझा जाता है कि वेद केवल धर्म और दर्शन के ग्रन्थ हैं परन्तु वास्तविकता यह है कि इनमें उस समय तक आर्यों द्वारा खोजा एवं विकसित समस्त ज्ञान–विज्ञान सूत्र रूप में संग्रहीत है। ऋग्वेद में यूँ तो ईश प्रार्थना और देवताओं की स्तुति सम्बन्धी मंत्र अधिक है परन्तु साथ ही सृष्टि, सृष्टिकर्ता, मानव जीवन के विभिन्न पक्ष, मानव जीवन के अन्तिम उद्देश्य और उस उद्देश्य को प्राप्त करने के साधनों की विषद व्याख्या की गई है। यजुर्वेद में भी ईश प्रार्थना और देवताओं की स्तुति और मानव जीवन के विभिन्न पक्षों से सम्बन्धित मन्त्र है परन्तु साथ ही मनुष्य के करणीय तथा अकरणीय कर्मों तथा कर्मकाण्ड (पूजा–पाठ तथा विभिन्न प्रयोजन के लिए किए जाने वाले यज्ञों) की विषद व्याख्या की गई है। अथर्ववेद में भी ईश प्रार्थना, देवताओं की स्तुति एवं मानव जीवन के विभिन्न पक्षों से सम्बन्धित मन्त्र हैं परन्तु इसमें मुख्य रूप से मनुष्य के लौकिक एवं पारलौकिक दोनों पक्षों से सम्बन्धित ज्ञान–विज्ञान संग्रहीत है, शारीरिक स्वास्थ्य, गृहस्थ जीवन, कृषि एवं अन्य कला–कौशल (व्यवसाय) से सम्बन्धित ज्ञान संग्रहीत है। इसमें गणित से सम्बन्धित कुछ ऐसे सूत्र हैं जो आज के गणितज्ञों के लिए शोध का विषय बने हुए हैं। इतना ही नहीं अपितु जलपोत एवं वायुयान निर्माण सम्बन्धी विज्ञान भी संग्रहीत है। सामवेद में भी ईश प्रार्थना, देवताओं की स्तुति और मानव जीवन से सम्बन्धित मन्त्र है, परन्तु साथ ही वेद मन्त्रों के उच्चारण एवं गायन की विधि है, उन्हें वाणी में उतार–चढ़ाव के साथ कैसे गाया जाए, इसका विज्ञान संग्रहीत है और किस प्रकार के वेद मन्त्रों को गाने से मनुष्यों को क्या लाभ होते हैं, इनकी भी व्याख्या है।

भारतीय संस्कृति के सर्वत्र शान्ति की कामना की गयी है। अथर्ववेद 11.9.14 में शान्ति सूक्त में कहा गया है कि पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्युलोक, जल, औषधियाँ, वनस्पतियाँ और देव हमारे लिये शान्तिप्रद हो शान्ति से बढ़कर हम असीम शान्ति प्राप्त करें। सभी प्रकार की शान्त प्रक्रियाओं को हम घोर कर्म, क्रूर कर्मफल और पापपूर्ण फल को दूर हटाते हैं। वे शान्त होकर कल्याणप्रद हो। वे सभी हमारे लिये मंगलदायक हो।

**पृथ्वी शांति अन्तरिक्षं शान्ति शांतिद्योः शांतिरापः**
**शांतिरोषधयः शांतिर्वनस्पतयः शान्तिः विश्वे में**

**देवाः शान्तिः सर्वे में देवः शान्तिः शान्तिः शान्तिः**
**शान्तिभिः। ताभिः शांतिभिः सर्वशान्ताभिः**
**शमयामोहं यदिह घोरं यदिह क्रूरं यदिह पापं**
**तच्छान्तं तच्छिवं सर्वभेव शमस्तु नः।**

(अथर्ववेद 11.9.14)

अथर्ववेद 11.9.7.9 में लिखा है कि सूर्य, वरूण, पृथ्वी, अन्तरिक्ष, लोहित दूध देने वाली गायें, उल्काएं, नक्षत्र आदि सभी शान्तिप्रद, सुखदायी व लोककल्याणकारी हों। भूमि में खोदकर किए गए प्रयोग भी प्राणीमात्र के लिए घातक न हो। देशकाल में होने वाले सभी प्रकार के विघ्नों का नाश होकर शान्ति स्थापित हो।

पृथ्वी सूक्त में अर्थवेद के ऋषियों ने कहा है– ''हे! धरती माँ जो कुछ मैं तुमसे लँगूा, वह उतना ही होगा जिसे तू पुनः पैदा कर सके। तेरे मर्मस्थल पर या तेरी जीवन–शक्ति पर कभी आघात नहीं करूँगा।''

वैदिक परम्परा में पर्यावरण संरक्षण की परम्परा प्रारम्भ से ही रही है। प्रकृति को देवी और देवता के रूप में स्वीकार किया गया है। आज भी भारत में बरगद, पीपल, ऑवला, तुलसी और नीम के वृक्षों की पूजा की जाती है। केले और आम के पत्तों को महत्व दिए बिना विवाह संस्कार तक शुभ नहीं समझे जाते है। हिन्दू धर्म में 'पीपल' और 'तुलसी' के पेड़ अत्याधिक पवित्र माने जाते हैं तथा यह समझा जाता है कि इन पेड़ों में देवता निवास करते हैं। 'तुलसी' के पेड़ के लिए यह प्रसिद्ध है कि विष्णु भगवान् उसमें अवस्थित हैं। इसी प्रकार 'अशोक' का वक्ष भी हिन्दू समाज में अत्यधिक पवित्र और पावन माना जाता है। पुत्र–प्राप्ति के लिए स्त्रियाँ 'अशोक' वक्ष ा का पूजन करती हैं। 'न्यग्रोध' अथवा 'वट' का वृक्ष भी हिन्दू धर्म में बहुत ख्यात है। पुराणों में यह विवतृ है कि प्रलयकाल में 'न्यग्रोध' वृक्ष पर बालक रूप में भगवान् नारायण पड़े हुए थे। वेद जिन्हें 'अरण्यक' कहते हैं, इनकी रचना वनों में हुई थी। ये वनों में गाए गए गीत है। ऋषि–मुनियों ने वनों में ही तपस्या की थी। यज्ञ–हवन द्वारा वायु तथा वातावरण की शुद्धि करना भारतीय मनीषियों की दैनिक दिनचर्या में शामिल था।

भारत में प्राचीन–काल से ही पशुओं का आदर और पूजन किया जाता रहा है। यहाँ जलीय जीवों को चारा चुगाया जाता है तथा जीव–जन्तु हमारे उपसाना के पात्र हैं हिन्दू धर्म में शिव के साथ वृषभ, माँ दुर्गे के साथ शेर, माँ सरस्वती के हंस, माँ लक्ष्मी के उल्लू का भी पूजन किया जाता है। नन्दी के रूप में अनेक शिवमन्दिरों में वृषभ की मूर्ति आज भी देखी जा सकती है। गौ–पूजा भी समाज में प्रचलित थी। गौ को माता कहा जाता रहा है। 'सुरभि' नामक गौ को सभी गौओं की माँ माना जाता है, वैसे 'कामधेनु' नामक गौ भारतीय मिथक और पौराणिक कथाओं में अत्यधिक ख्यात रही है, जिसका दूध कभी समाप्त नही होता था, तथा जिसकी

शक्ति अपरिसीम होती थी। उनकी सेवा करने से पुत्र की प्राप्ति होती थी। 'पंचगव्य' का हिन्दू धर्म में महत्व रहा है जो गौ के दूध, दही, मक्खन आदि को मिलाकर बनता है। नाग पूजा भारतीय समाज में प्रचलित थी। नागों को दूध, लावा, भुने जौ का आटा, दुग्ध मिला हुआ आटा, जल, पुष्प आदि अर्पित किया जाता था। आज भी नागपंचमी के दिन नागपूजा की जाती है।

हिन्दू धर्म में विभिन्न पर्वतों का भी महत्वपूर्ण स्थान रहा है, जिनका समय–समय पर पूजा होता था। मेरू, कैलाश, हिमालय आदि पर्वतों का उल्लेख हिन्दू धर्मशास्त्रों और पुराणों में हुआ है तथा उनके धार्मिक स्वरूप का विवरण दिया गया है। मेरू पर्वत का इसलिए महत्व था कि उसके आस–पास देवताओं का निवास था। शिव के कारण कैलाश पर्वत की महिमा थी। भगवान शिव स्वयं उस पर्वत पर विराजमान रहते थे। हिमालय की पुत्री पार्वती थीं, जिनका विवाह कैलाश पवर्त निवासी शंकर से हुआ था। आज भी हिमालय पर्वत शिखर का नाम कैलाश है, जिसका मान और महत्व शिव के कैलाश के रूप में है। इसी प्रकार 'विन्ध्य' पर्वत का महत्व 'विन्ध्यवासिनी' देवी से है, जहाँ शक्ति सम्प्रदाय और दुर्गा के अनुयायी लोग
पूजन के लिए जाया करते हैं।

वैदिक दार्शनिक परम्परा में नदियों और सरिताओं की देवी व माँ के रूप में पूजा की जाती थी। ऐसे पवित्र नदियों का उल्लेख उत्तरवैदिक–कालीन ग्रन्थों के अतिरिक्त पुराणों और साहित्यिक ग्रन्थों में है। गंगा (जाह्नवी) नदी के लिए कहा जाता है कि वह भगवान विष्णु के पैर से निकलकर आकाश में प्रवाहित होती हुई (मन्दाकिनी) शिव की जटा से होकर पृथ्वी पर गिरी। गंगा को देवी के रूप में स्वीकार किया गया है। सरस्वती नदी भी देवी के रूप में स्वीकार की गई, जो भूतल के नीचे बहकर गंगा की धारा में मिल गई। प्रयाग का संगम तीन महान् पवित्र नदियों का संगम है, जिसमें गंगा, यमुना और सरस्वती नदियों की धाराएं मिलती है। दक्षिण में नर्मदा, गोदावरी, कृष्णा और कावेरी उत्तर की गंगा, यमुना, सरस्वती आदि नदियों की भाँति ख्यात हैं। इन नदियों के निकट रहने वाले लोग हृष्ट–पुष्ट, निरोगमय रहते थे तथा आपस में मिल–जुल कर सुखमय जीवन व्यतीत करते थे।

मनुस्मृति में निर्देश दिया गया है कि किसी भी व्यक्ति को जल में मल–मूत्र का त्याग तथा थूकना नहीं चाहिए। जल में वरूण देवता का वास माना गया है। सदैव से धर्मप्रिय और धर्म–भीरू रहने वाले भारतवासी जलप्रदूषण से सदैव दूर रहते थे।

यह प्रकृति और वातावरण से अनुकलू सम्बन्ध का परिणाम ही था कि मानव की औसत आयु 100 वर्ष थी। ''शतापुर्वे पुरुषः जीवम् शरदः शतम् एवं शतं वर्षाणि जीव्यासम्।'' इन सौ वर्षों के जीवनकाल के आधार पर ही चार आश्रमों को 25–25 वर्षों का मानकर आश्रम व्यवस्था का नियोजन किया गया। प्राचीन काल से मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन को विभिन्न स्तर के साथ अनशुासन, संयम और नियम के अन्तर्गत रखा गया था, जिसे आश्रम–व्यवस्था कहते हैं। मनुष्य

का सम्पूर्ण जीवन, बाल्यावस्था से वृद्धावस्था तक चार आश्रमों से विभाजित किया गया था– ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम। आश्रम की व्यवस्था हिन्दू विचारधारा के जीवन दर्शन की अभूतपूर्व व्यवस्था थी, जिसके माध्यम से मनुष्य का सम्पूर्ण जीवन अत्यन्त नियमित और संयमित किया गया था।

**वानप्रस्थं भैक्ष्यचर्य गार्हस्थ्य च महाश्रमम्।**
**ब्रह्मचर्याश्रमं प्राहुश्चयतुर्थ ब्राहणैर्वृतम्।।**

(मनुस्मृति 18.12.8)

आश्रम धर्म के अनुपालन से मनुष्य अपना आत्मिक, नैतिक और शारीरिक विकास करता था। मनु के शास्त्रानुरूप ग्रहण किये गये इन चारों आश्रमों का विधिवत् अनुपालन करने वाला विप्र परम गति (मोक्ष) प्राप्त करता है।

**सर्वेऽपि क्रमशस्त्वेते यथाशास्त्रं निषेयिताः।**
**यथोक्तकारिणं विप्रम् नयन्ति परमां गतिम्।।**

(मनुस्मृति 18.12.16)

प्रत्येक आश्रम के अलग–अलग संयम और नियम हैं, जिनका अनुपालन करने के लिए धर्मशास्त्रकारों ने निर्देश दिया है। ब्रह्मचर्य आश्रम के अन्तर्गत ब्रह्मचारी का यह धर्म निर्दिष्ट किया गया था कि वह गुरु के सान्निध्य में रहकर वेदाध्ययन करें, सूर्योदय के पूर्व उठे, स्नानादि के पश्चात् सन्ध्योपासना और गायत्री–जप करें, शाकाहारी होते हुए प्रसाधन सामग्री, स्त्रीस्पर्श, संगीत, नृत्य आदि से दूर रहे, इन्द्रियों को वश में रखे, गुरु की सेवा करें तथा भिक्षाटन कर अपना तथा अपने गुरु का पोषण करें। भिक्षाटन का उद्देश्य छात्र को विनयशील तथा धैर्यवान बनाना था।

**ब्रह्मचारी व्रती नित्यं नित्यं दीक्षापरो वशी।**
**परिचार्य तथा वेदं कृत्यं कुर्वन् वसेत् सदा।।**

(मनुस्मृति 18.15.7)

गृहस्थ का यह परम कर्त्तव्य माना गया था कि वह त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ और काम) का पालन करता हुआ गहृ स्थ कार्यों को करें। मनु ने सभी आश्रमों को गृहस्थ के अन्तर्गत मानकर यह लिखा है कि गृहस्थ आश्रम समुद्र के रूप में हैं, जिसमें अन्य आश्रम नदी के रूप में मिलते हैं। गृहस्थ के लिए अहिंसा, सत्य वचन, शम, दान आदि उत्तम धर्म माना गया है।

**अहिंसा सत्यवचनं सर्वभूतानुकम्पनम्।**
**शमो दानं यथाशक्ति गार्हस्थ्यो धर्म उत्तमः।।**

(मनुस्मृति 20.6.5)

विभिन्न यज्ञों का सम्पादन गृहस्थ आश्रम के माध्यम से ही सम्भव था। पंचमहायज्ञों की पूर्ति तथा सन्तानोत्पत्ति गृहस्थ आश्रम में रहकर सम्पन्न की जाती रही है। देव–ऋण और पितृ–ऋण जैसे ऋणों से मुक्ति गृहस्थ आश्रम का अनुपालन करने से ही संभव था। गृहस्थ जीवन से अवकाश लेकर व्यक्ति वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करता था। सांसारिक मोह–माया को त्यागकर एकान्त का आध्यात्मिक जीवन वानप्रस्थ का था। एक प्रकार से वानप्रस्थ आश्रम व्यक्ति के लिए संन्यास का प्रारम्भिक रूप था जिसमें वह वन में रहकर संयम, त्याग, अनुशासन, धर्माचरण, सेवाभाव, तपश्चर्या आदि का अभ्यास करता था तथा विषय भोग पर नियंत्रण रखता था। चौथा आश्रम संन्यास का जीवन था। संन्यास आश्रम में प्रवेश करने वाला व्यक्ति संन्यासी अथवा परिब्राजक कहा जाता था जो ससांर से पूर्णतः विरक्त होकर अपने को ईश्वर–भक्ति में लगाता था। उसे रोष, मोह, लोभ आदि से दूर रहना पड़ता था तथा सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य, शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर–प्रणिधान (भगवान् की आराधना) आदि का पालन करना पड़ता था।

**गृहस्थाश्रमे स्थित्वा विधिवत्स्नातको द्विजः।**
**वने वसेत्तु नियतो यथावद्विजितेन्द्रियः।।**
**देवताभ्यस्तु तद्धुत्वा वन्यं मेध्यतरं हविः।**
**शेषमात्मनि युंजीत लवणं च स्वयंकृतम्।।**

(मनुस्मृति 18.12.2)

इन चारों आश्रमों का विभाजन क्रमशः धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के आधार पर किया गया था। इन आश्रमों का उद्देश्य मानव समाज का कल्याणकारी विकास करना था। इसमें धर्म और मोक्ष को नैतिक आधारशिला के रूप में स्वीकृत किया गया तथा अर्थ और काम को व्यवहारिक तथा मनोवैज्ञानिक आधार पर स्वीकार किया गया था। आश्रम धर्म के अनुपालन से व्यक्ति संस्कारवान् तथा सयं मी बनकर जीवन को उन्नत और विशिष्ट बनाता था।

मनुष्य का सम्पूर्ण जीवन जन्म से लेकर मृत्यु तक विभिन्न सरं कारों से शुद्ध और पवित्र होता रहा है। संस्कारों को सम्पन्न किये बिना व्यक्ति का जीवन अपवित्र, अपूर्ण और अव्यवस्थित था। शरीर और आत्मा की शुद्धि और पवित्रता संस्कारों के संपादन से ही सम्भव थी। जीवन को विविध बाधाओं और विघ्नों से दूर रखना संस्कारों का मूल उद्देश्य रहा है। इन संस्कारों के करने में हवन और अग्नि की सर्वाधिक अपेक्षा की जाती रही है। जल में अभिषिंचन करते हुए पूर्वाभिमुख होकर प्रतीक रूप में शुभ की प्राप्ति और अशुभ के निवारणार्थ मंगलमय घड़ी में अपने को पूर्णरूपेण पूजन में संलग्न करते हुए संस्कार क्रियान्वित किये जाते थे। इस प्रकार वैयक्तिक जीवन को योग्य, गुणाढ्य, परिष्कृत और व्यवस्थित रूप प्रदान करने में संस्कारों का महत्वपूर्ण योग रहा है अतः जीवन को मंगलकारी बनाने के लिए सोलह संस्कारों का विधान

किया गया। बालक को आदर्श नागरिक बनाने हेतु जन्म के पूर्व से ही विशेष संस्कार संपादित किये जाते थे जो उसके लिए एक उत्कृष्ट सामाजिक व सांस्कृतिक पर्यावरण का सृजन करते थे इनमें से कतिपय महत्वपूर्ण संस्कार अधोलिखित हैं–

- गर्भाधान संस्कार– हिन्दू समाज में किया जाने वाला यह पहला संस्कार है। इस संस्कार के माध्यम से विवाहोपरान्त पुरुष स्त्री में अपना बीज स्थापित करता और सन्तान की कामना करता है। उपयुक्त समय और वातावरण का ध्यान रखना अपेक्षित रहा है। स्त्री का ऋतु–काल में रहना आवश्यक माना गया। ऋतु–स्नान के बाद चौथी रात्रि में सोलहवीं रात्रि तक गर्भधारण के लिए उपयक्ु त समय अवधि मानी गई है। रात्रि का समय ही गर्भाधान के लिए ठीक माना गया है और वह भी अर्द्धरात्रि के बाद। दिन का समय निषिद्ध था। रात्रि में भी पिछला प्रहर श्रेयस्कर था। 8वीं, 15वीं, और 30वीं, रात्रियाँ गर्भाधान के लिए पूर्णतः वर्जित थीं।

**षपोडशर्त्तुनिशाः स्त्रीणां तासु युग्मालु संविशेत्।**
**पर्वाण्याद्याश्च वर्जयेत।**
**पोडशर्त्तुनिशाः स्त्रीणां तासु युग्मासु संविशेत्।**
**ब्राह्मचार्येय पर्वाण्याद्याश्चतस्त्रस्तु वर्जयेत्।।**

(मनुस्मृति 11.2.5)

इनके अतिरिक्त सोलह रात्रियों में प्रथम चार, ग्यारहवीं और तेरहवीं रात्रियाँ भी निन्दित थीं और शेष दस रात्रियाँ श्रेष्ठ थी। पुत्रेच्छुक पुरुष का सम रात्रियों में स्त्री–गमन करने का विधान किया गया। इस प्रकार गर्भाधान संस्कार का उद्देश्य था, स्वस्थ, सुन्दर और सुशील सन्तान का निरापद जन्म।

- पुंसवन संस्कार–गर्भ के तीसरे महीने 'पुंसवन संस्कार' का आरोपण किया जाता था। यह संस्कार पुत्र–सन्तानोत्पत्ति के निमित्त निष्पन्न होता था।

**पुंसवनमिति कर्मनामधेयं येन कर्मणा निमित्तेन गर्भिणी पुमासमेव सूते सत्पुंसवनम्।**

(मनु स्मृति)

इस संस्कार के माध्यम से पुत्र प्रदान करने वाले देवताओं को प्रसन्न किया जाता था। कभी–कभी यह दो मास से लेकर आठ मास तक के बीच किसी समय सम्पन्न होता था। जब चन्द्रमा पुष्प नक्षत्र में होता था तब यह संस्कार निष्पन्न किया जाता है। पुत्र–सन्तान के लिए यह नक्षत्र मंगलकारी थी। इसलिए रात्रि में बरगद की छाल का रस स्त्री को नाक के दाहिने छिद्र में डाला जाता था ताकि उसे गर्भपात न हो। वह व्रत रखती थी तथा देवताओं का

पूजन–अर्चन करती थी। पुराणों में उल्लिखित है कि तेजस्वी पुत्र की प्राप्ति के लिए यह संस्कार होता था।

**तस्यामाधत्त गर्भे स तेजस्विनुमुदारधीः।**

(पुरुष, सुक्त, अर्थवेद)

- नामकरण संस्कार– हिन्दू समाज में सन्तान को नाम प्रदान करना भी एक संस्कार माना गया। परिवार में नाम का अत्यधिक महत्व रहा है, जो शुभ कर्मों और भाग्य का आधार माना गया है। शिशु के नाम का चुनाव धार्मिक क्रियाओं के साथ निश्चित तिथि को सम्पन्न किया जाता था। नामधेय के लिए नामकरण का काल और नामार्थक शब्दों का विचार भी इसका आवश्यक अंग था। मनु के अनसु ार दसवें और बारहवें दिन शुभ तिथि, नक्षत्र और मुहर्त्त में नामकरण संस्कार का आयोजन करना चाहिए।

**नामधेयं दशभ्यां तु द्वादश्यां वास्य कारयेत्।**
**पुण्ये तिथौ मूहूर्त्ते वा नक्षत्रे वा गुणान्विते।।**

(मनुस्मृति 14.11.17)

- निष्क्रमण संस्कार– जन्म से एक निश्चित अवधि के बाद जब संतान को पहली बार घर के बाहर निकाला जाता था, तब वह 'निष्क्रमण' कहा जाता था। इस संस्कार के पहले माँ और शिशु को एक प्रकोष्ठ में रखा जाता था तथा वहां से कहीं और जाने की अनमु ति नहीं होती थी। निष्क्रमण संस्कार सम्पन्न करने के बाद ही शिशु अपनी माता के साथ बाहर लाया जाता था। यह संस्कार प्रायः जन्म के बारहवें दिन से चौथे मास तक सम्पन्न हो जाता था। एक निश्चित मंगलमय तिथि को पूजा–पाठ के बाद सन्तान को घर के बाहर प्राकृतिक वातावरण में लाया जाता था। इस संस्कार को सम्पन्न करने की निर्धारित तिथि के दिन गृह के किसी ऐसे हिस्से को गोबर और जल से पवित्र किया जाता था, जहाँ से सूर्य का दर्शन सम्भव था। स्वस्तिक का चिन्ह बनाकर उस पर धान डाले जाते थे। शिशु को स्नान कराकर, नवीन वस्त्र धारण कराकर, यज्ञ के सम्मुख लाकर वेद–मन्त्रों का पाठ होता था। तत्पश्चात् शिशु को माँ की गोद में देकर सर्वप्रथम उसे सूर्य का दर्शन कराया जाता था।
- अन्नप्राशन संस्कार– पाँचवें महीने के बाद शिशु अन्न खाने लायक हो जाता है और वह धीरे–धीरे अन्न की ओर आकृष्ट होने लगता है। इस संस्कार के पूर्व तक शिशु माँ के दूध और गाय के दूध पर पलता है। पाँच–छह महीने के बाद माँ का दूध कम होने लगता है तथा बच्चे को अधिक पौष्टिक आहार की आवश्यकता पड़ती है जिससे उसके

शरीर का विकास ठीक से हो सके। अतः अन्प्राशन सस्ं कार द्वारा बच्चे को गोबर से लिपाई युक्त जमीन पर बैठकर अन्न ग्रहण कराया जाता था।

- उपनयन संस्कार– 'उपनयन' का अभिप्राय स्वाध्याय अथवा वेद के अध्ययन से है, जब बालक आचार्य के निकट अध्ययनार्थ जाता था 'उपनयन' के लिए 'यज्ञोपवीत' शब्द का भी प्रचलन हुआ, जिसका अर्थ है यज्ञ का उपवीत। हिन्दू समाज में उपनयन संस्कार का सर्वाधिक महत्व है। जिसका सम्बन्ध व्यक्ति के बौद्धिक उत्कर्ष से है। यह संस्कार इस बात का प्रमाण था कि अनियमित और अनुत्तरदायी जीवन समाप्त होकर नियमित, गम्भीर और अनशु ासित जीवन प्रारम्भ हुआ। शैक्षणिक और सांस्कृतिक दृष्टि से इस संस्कार की उल्लेखनीय महत्ता थी। इसके माध्यम से व्यक्ति गुरु, वेद, यम, निपयम और देवता के निकट पहुँचता था, ताकि वह ज्ञान प्राप्त कर सके। उपनयन संस्कार हो जाने के बाद ही बाल 'द्विज' अर्थात् दुबारा जन्म लिया हुआ कहा जाता था। उपनयन की तिथि के एक दिन पहले गणेश, लक्ष्मी, सरस्वती आदि विभिन्न देवी–देवताओं की पूजा की जाती थी। रात भर बालक मौन धारण किये रहता था। उपनयन के दिन माँ–बाप अपने बालक के साथ बैठक भोजन करते थे इससे स्पष्ट है कि बालक माँ के स्नेह के बाद संसार–सागर में प्रवेश करता था। बालक स्नानादि करके 'कौपीन' धारण करता था। कमर में 'मेखला' पहनता था। गुरु द्वारा दिये गये 'उत्तरीय' को वह उपयोग में लाता था। तदनन्तर वह जनेऊ पहनता था, जिसके तीन धागे सत्, रज और तम गुणों के प्रतीक थे। साथ ही ये तीनों धागे उसे ऋषि–ऋण, देव–ऋण और पितृ–ऋण का भी स्मरण दिलाते थे।

  यज्ञोपवीत संस्कार की कार्य–पद्धति के अन्तर्गत बालक को स्नान कराकर कौपीन (लँगोटी) धारण करने के लिए दी जाती थी। स्नान से उनका मन और शरीर शुद्ध होता था। आचार्य उसके कटि के चारों ओर मेखला बाँधता था तथा उसे उपवीत धारण करने के लिए दिया जाता था। आचार्य शिष्य को सावित्री मन्त्र के साथ उपदेश देता था। सावित्री मन्त्र बुद्धि और ज्ञान के उत्कर्ष का प्रमुख प्रेरक तत्व था, जिससे व्यक्ति आध्यात्मिक विकास करता था। ये कार्य सम्पादित कर दिये जाने के बाद विद्यार्थी को भिक्षा–याचना के लिए निर्देश दिया जाता था, जो उसकी नम्रता और सदाचारिता का प्रतीक था। साथ ही इससे यह भी स्पष्ट होता था कि विद्यार्थी सम्पूर्ण समाज पर आश्रित है।

  हिन्दू समाज में जीवन को अनुशासित और बुद्धि संचालित बनाने में उपर्युक्त संस्कार विधानों का बहुत बड़ा योगदान था। इससे दायित्व–निर्वाह तथा निस्पृह और निर्लिप्त जीवन विकसित होता था। मनुष्य की सामाजिक और शैक्षणिक उपलब्धियाँ इस

संस्कार की सम्पन्नता के पश्चात् ही सभंव थी। आज भी हिन्दू परिवारों में उपनयन सस्ंकार की वही महत्ता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि वैदिक दर्शन में पर्यावरण शिक्षा व्यक्ति के व्यवहार में ही परिलक्षित होती थी। संस्कारिक तथा संयमित नागरिक स्वमेव पर्यावरण का मित्र होता था।

**सन्दर्भ ग्रन्थ सूची**


1. पाण्डेय, आर0एस0 (1983), 'शिक्षा दर्शन'', विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा–2
2. शर्मा, बी0एल0, (1991), ''पर्यावरण नियोजन एवं परिस्थितिकी विकास'', आगरा, साहित्य भवन।
3. शर्मा, चंदधर, (1991), ''भारतीय दर्शन– आलोचन और अनुशीलन'', दिल्ली, मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स प्रा0लि0।
4. गोपाल, कृष्णन सरोजिनी (1992), इम्पैक्ट ऑफ एन्वयर्मेन्टल एजुकेशन ऑन प्राइमरी स्कूल चिल्ड्रेन'', अविनाशिलिंगम इस्टीट्यूट फार होम साइंस एण्ड हायर एजुकेशन फार वुमेन, बुच सर्वे, भाग–2, पेज–17
5. सिंह, बी0एन0, (1994), ''भारतीय दर्शन'', वाराणसी–5, स्टूडेण्ट्स फेण्ड्स एण्ड कंपनी।